प्राचीन भारतीय आर्य समाज में चातुर्वर्ण्य तथा वर्तमान जाति व्यवस्था

(श्रीअरविन्द के आलोक में)

चंद्र प्रकाश खेतान

हिन्दी अनुवाद

पंकज बगड़िया

विषय सूची

I. भारत क्या है? 1

II. भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति 3

1. आधारभूत विचार एवं मूलभूत भाव 3
2. वह सुदृढ़ बाह्य आधार जिस पर भारतीय संस्कृति ने अपने भाव के व्यावहारिक विकास को स्थापित किया और जीवन का उसका विचार 7
3. उत्तर-वैदिक युग के दौरान भारतीय संस्कृति के शानदार अभिलेख का सिंहावलोकन 11

III. किसी व्यक्ति के वर्ण के निर्धारण का वास्तविक मूल आधार और बाद में जन्म को लगभग एकमात्र निर्धारक तत्त्व के रूप में माने जाना : श्रीअरविन्द के कुछ चुनिंदा वचन 20

IV. गीता में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था – स्वभाव और स्वधर्म का सिद्धांत 32

V. प्राचीन भारतीय आर्य समाज में चातुर्वर्ण्य तथा वर्तमान जाति व्यवस्था.. 66

VI. चतुर्विध विभाजन की दो प्रणालियों (एक गुणात्मक और दूसरी स्तरानुक्रमबद्ध) के बीच एक सर्वव्यापी भ्रम – जातियों और वर्णों के विभाजन के नाम पर होने वाली अधिकांश गलतफहमियों, कटुताओं और अनकही पीड़ाओं और अन्यायों का मूल 79

II. भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति

1. आधारभूत विचार एवं मूलभूत भाव

"भारतीय सभ्यता का मूल्यांकन मुख्यतः उसकी सहस्रों वर्षों की संस्कृति और महानता के द्वारा होना चाहिये, न कि अज्ञानता एवं दुर्बलता की कुछ सदियों द्वारा। एक संस्कृति का मूल्यांकन, सर्वप्रथम उसके मूलभूत भाव द्वारा, फिर उसकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों द्वारा और अंततः अपने जीवित बने रहने की, पुनरुद्धार की तथा जाति की चिरंतन आवश्यकताओं के नए चरणों के अनुरूप ढलने की शक्ति द्वारा किया जाना चाहिये।" (CWSA 20: 120)

प्रायः ही हम भारत और उसकी संस्कृति की आलोचनाएँ इस आरोप के आधार पर की जाती सुनते हैं कि यह राष्ट्र सदा ही विदेशी आक्रांताओं द्वारा वशीभूत एवं पददलित रहा है और यहाँ सदा निर्धनता ही रही है। जो कुछ भी आधुनिक विकास हमें यहाँ देखने को मिलता है वह सब तो यूरोपीय संस्कृति की देन है। इस संस्कृति का मूल्यांकन अधिकांशतः हम केवल उसकी अवनति, जड़ता और निष्क्रियता के काल के आधार पर किया गया पाते हैं। परंतु वास्तव में, यह किसी भी संस्कृति के मूल्यांकन का सच्चा आधार नहीं हो सकता, और विशेषकर प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूल्यांकन का तो कदापि नहीं हो सकता। जिस संस्कृति ने अदम्य और अथक रूप से सहस्रों वर्षों तक आत्मा, चिंतन और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विराट् अभिव्यक्ति की हो, पूरी मानवजाति के लिए हर क्षेत्र में अगत मार्गों को खोला हो, नवीन आयाम प्रदान किए हों, उसका मूल्यांकन केवल दुर्बलता की कुछ सदियों से ही किया जाना उचित नहीं है।

यहाँ मूलभूत प्रश्न यह उठता है कि आखिर किसी संस्कृति का मूल्यांकन करने के मानक क्या होने चाहिये? क्योंकि यदि स्वयं वे मानक ही दोषपूर्ण हों तो उस मूल्यांकन से किन्हीं भी उचित परिणामों की अपेक्षा कैसे रखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, यदि भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन उसकी सैन्य आक्रमणकारिता, अन्य राष्ट्रों के साथ युद्ध में उसकी सफलता, और उसकी संगठित धन-लिप्सा और डकैती की प्रवृत्तियों की विजय, राज्य-विस्तार और शोषण के लिये उसके अदम्य आवेग के द्वारा किया जाए तो भारत कदाचित् ही महानता के पैमाने पर सही उतरेगा क्योंकि ऐसी कोई भी प्रवृत्ति उसकी संस्कृति के मूलभाव के लिए सर्वथा विजातीय थी। महानता के ऐसे ही भ्रमित मूल्यों पर तीक्ष्ण कटाक्ष

करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "ऐसा कहा जाता है – योग्यतम ही जीवन-संग्राम में जीवित बचता है। तब फिर ऐसा कैसे है कि साधारण धारणानुसार यह जाति जो अन्य जातियों की अपेक्षा अत्यंत अयोग्य है, फिर भी दारुण जातीय दुर्भाग्यचक्र में फँस जाने पर भी उसके विनाश का कोई चिह्न दिखाई क्यों नहीं देता? ऐसा कैसे है कि तथाकथित वीर्यशाली और कर्मपरायण जातियों की प्रजनन शक्ति जिस प्रकार एक ओर प्रतिदिन कम होती जा रही है, उसी प्रकार दूसरी ओर नैतिकताविहीन (?) हिंदुओं की वृद्धि सर्वापेक्षा अधिक हो रही है? जो लोग एक पल में समस्त विश्व को रक्तरंजित कर सकते हैं, उनके लिए तारीफ की झड़ी लग जाती है; जो लोग कुछ लाख लोगों के सुख के लिए संसार के आधे लोगों को भूखा मार सकते हैं, वे भी गौरवान्वित हो सकते हैं, किंतु जो लोग अन्य लोगों का अन्न न छीनकर करोड़ों मनुष्यों को सुख और शान्ति प्रदान करते हैं, वे क्या किसी प्रकार का सम्मान प्राप्त करने योग्य नहीं हैं? शताब्दियों से दूसरों के ऊपर किसी भी प्रकार का अत्याचार न करके करोड़ों लोगों के भाग्य का संचालन करने वालों के कार्य में क्या किसी प्रकार की शक्ति का विकास प्रकट नहीं होता?" (CWSV 4: 323)

यदि धन-संपदा और वैभव और बाहरी संपन्नता ही किसी सभ्यता के मूल्यांकन के मानक हों तो तथ्य यह है कि किसी समय एशिया, और विशेषकर भारत में, धन-संपदा की प्रचुरता को दरिद्र युरोप द्वारा बर्बरता का सूचक बताकर अवमानित किया जाता था। परंतु उस सारी धन-संपदा की अंधाधुंध लूटपाट के एक दीर्घकाल के बाद जब स्थितियाँ बिल्कुल विपरीत हो गईं तब वही युरोप अपनी इस लूटी हुई संपदा पर गर्व करते हुए स्वयं को उसी आधार पर सभ्य और विकसित बताने लगा और जिनकी संपदा को उसने लूटा और जिनकी संस्कृति को प्रायोजित तरीके से उसने पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयास किया उन्हीं भारतीयों को अशिष्ट, दरिद्र और भूखे-नंगे कहकर उनका उपहास करने लगा।

"यदि हमें भारतीय सभ्यता का या अन्य किसी सभ्यता का सही दर्शन प्राप्त करना है तो यह आवश्यक है कि केंद्रीय, जीवंत, संचालक तत्त्वों पर ध्यान दिया जाए और दुर्घटनाओं तथा छोटी-मोटी बातों से उत्पन्न भ्रम के द्वारा भटका न जाए। यह एक ऐसी सावधानी है जिसे बरतने के लिए हमारी संस्कृति के आलोचक लगातार इंकार करते हैं। किसी सभ्यता, किसी संस्कृति को सर्वप्रथम उसके प्रवर्तक, सहायक, चिरस्थायी केंद्रीय उद्देश्यों, उसके स्थिर सिद्धांतों के मर्म में देखना होगा; अन्यथा संभवतः हम इन आलोचकों की भाँति अपने-आपको एक सूत्र-रहित भूल-भुलैया में पाएँगे और मिथ्या एवं अधूरे निष्कर्षों के बीच ठोकर खाते

III. किसी व्यक्ति के वर्ण के निर्धारण का वास्तविक मूल आधार और बाद में जन्म को लगभग एकमात्र निर्धारक तत्त्व के रूप में माने जाना : श्रीअरविन्द के कुछ चुनिंदा वचन

"मनुष्य की आत्म-शक्ति में प्रकृतिगत यह 'देव' स्वयं को चतुर्विध प्रभावी शक्ति, चतुर्व्यूह के रूप में प्रस्तुत करता है, ज्ञान के लिए 'शक्ति', बल के लिए 'शक्ति', पारस्परिकता और सक्रिय तथा उत्पादक संबंध और आदान-प्रदान के लिए 'शक्ति', कार्य और श्रम और सेवा के लिए 'शक्ति', और इसकी उपस्थिति समस्त मानव जीवन को इन चार चीजों के एक-दूसरे से संबंध (nexus) और आंतरिक और बाह्य क्रियाकलाप में डाल देती है। इस चतुर्विध सक्रिय मानव व्यक्तित्व और प्रकृति के संबंध में सचेतन भारत के प्राचीन विचार ने इसमें से चार प्रकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, का निर्माण किया, जिनमें से प्रत्येक की अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति, उसका नैतिक आदर्श, उसके अनुकूल शिक्षा-संस्कार, समाज में सुनिर्धारित कार्य और आत्मा की विकासात्मक श्रेणी में निश्चित स्थान था। **जैसा कि तब सदा ही होता है जब हम अपनी प्रकृति के सूक्ष्मतर सत्यों को बहुत अधिक बाह्यीकृत और यंत्रीकृत करते हैं, यह (प्रणाली) मनुष्य में सूक्ष्मतर रूप से विकसित हो रही आत्मा की स्वतंत्रता, विविधता और जटिलता के साथ असंगत एक सख्त और अनमनीय प्रणाली बन गई।** फिर भी, इसके पीछे का सत्य अब भी विद्यमान है और यह हमारी प्रकृति की शक्ति की पूर्णता में कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण चीजों में से एक है; परंतु हमें इसे इसके आंतरिक पहलुओं में लेना होगा, सबसे पहले, व्यक्तित्व, चरित्र, स्वभाव, आत्म-प्रकार, फिर वह आत्म-शक्ति जो उनके पीछे स्थित है और इन रूपों को धारण करती है, और अंत में वह मुक्त आध्यात्मिक शक्ति की क्रीड़ा जिसमें वे सभी प्रकारों से परे अपनी पराकाष्ठा और एकता पाते हैं। **क्योंकि यह अपरिपक्व बाह्य विचार कि एक मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के रूप में और केवल उसी के रूप में जन्म लेता है, यही हमारे अस्तित्व का मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं है।** मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि हमारे भीतर 'आत्मा' की ये चार सक्रिय शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ और उसकी कार्यकारी शक्ति हैं और हमारे व्यक्तित्व के अधिक सुगठित भाग में इनमें से किसी एक की प्रधानता हमें हमारी मुख्य प्रवृत्तियाँ, प्रधान गुण और क्षमताएँ, कर्म और जीवन में प्रभावी रुख प्रदान करती है। परंतु वे कमोबेश सभी मनुष्यों में विद्यमान होती हैं, कहीं प्रकट, कहीं अव्यक्त, कहीं विकसित, कहीं नियंत्रित

और दबी हुई या अधीनस्थ, और पूर्ण मनुष्य में वे एक ऐसी पूर्णता और सामंजस्य तक उठा दी जाएँगी जो आध्यात्मिक स्वतंत्रता में आंतरिक और बाहरी जीवन में आत्मा के अनंत गुण की मुक्त क्रीड़ा में फूट पड़ेगी..." (CWSA 24: 742-43)

"*बंगाली* में यह खबर छपी है कि श्रीयुत बाल गंगाधर तिलक द्वारा जाति व्यवस्था पर एक निश्चित घोषणा की गई है। दक्कन के राष्ट्रवादी नेता कहते हैं, "सामाजिक असमानता का आम विचार बहुत भारी खराबी का काम कर रहा है।" श्रीयुत तिलक जैसे एक ईमानदार हिंदू और सच्चे राष्ट्रवादी द्वारा यह घोषणा किये जाना स्वाभाविक ही है। **मूल जाति व्यवस्था की अपभ्रष्ट विकृतियों के पीछे निहित निम्नतर विचार, वह मानसिक दृष्टिकोण जो उन्हें जाति, अभिमान और अहंकार, जन्म की घटना पर निर्भर दैवीय रूप से निर्धारित श्रेष्ठता, एक निश्चित और असहिष्णु असमानता के झूठे आधार पर आधारित करता है, परमोच्च शिक्षा, हिंदू धर्म के मूल भाव के साथ असंगत है जो प्रत्येक व्यष्टि सत्ता में एक अपरिवर्तनीय और अविभाज्य 'भगवत्ता' को देखता है।** राष्ट्रवाद और कुछ नहीं बस राष्ट्र में उस 'भगवद् ऐक्य' की प्राप्ति के लिए एक तीव्र अभीप्सा है, वह एकता जिसमें सभी घटक व्यक्ति, चाहे राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक कारकों के रूप में उनके कार्य कितने भी भिन्न और असमान क्यों न हों, फिर भी वास्तव में और मूल रूप से एक और समान हैं। राष्ट्रवाद का वह आदर्श जिसे भारत दुनिया के सामने रखेगा, उसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच, जाति और जाति के बीच, वर्ग और वर्ग के बीच एक मूलभूत समानता होगी, जो, जैसा कि श्री तिलक ने बताया है, कि सभी राष्ट्र में साकार किए गए विराट् पुरुष के विभिन्न पर समान और एकीकृत भाग हैं। हमारे धर्म की आग्रही शिक्षा और 'भारतीय राष्ट्रवादी' का कार्य है अपने देश के हर नागरिक को उनके देश के धर्म और दर्शन के आदर्श से परिचित कराना। हम तानाशाही के प्रति असहिष्णु हैं क्योंकि यह राजनीति में इस मूलभूत समानता का खंडन है, हम जाति व्यवस्था के आधुनिक विरूपण पर आपत्ति करते हैं क्योंकि यह समाज में उसी मूलभूत समानता का खंडन है।" (CWSA 7 : 679)

सौ साल से भी अधिक पहले *आर्य* में लिखते हुए श्रीअरविंद ने बताया था, "अज्ञानतापूर्ण पाश्चात्य आलोचना के विरुद्ध अपनी संस्कृति की रक्षा करने तथा उसे अतिविशाल आधुनिक दबाव के विरुद्ध बनाए रखने का साहस सर्वप्रथम आता है, लेकिन इसके साथ ही किसी यूरोपीय दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि अपने स्वयं के दृष्टिकोण से अपनी संस्कृति की त्रुटियों को स्वीकार करने का साहस भी होना

IV. गीता में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था – स्वभाव और स्वधर्म का सिद्धांत

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ IV. 13 ॥

१३. गुणों के और कर्मों के विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मेरे द्वारा सृष्ट की गई है; यद्यपि मैं इन (चतुर्वर्ण विधान) की सृष्टि करने वाला हूँ तथापि मुझे अकर्त्ता अविनाशी जान।

"केवल इसी उक्ति के बल पर ही सर्वथा यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गीता इस प्रणाली को एक सनातन एवं सार्वभौम सामाजिक व्यवस्था के रूप में मानती थी। अन्य प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथ इसे इस प्रकार नहीं मानते थे; उल्टे वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि आदिकाल में इसका अस्तित्व नहीं था तथा विकास के उत्तर काल में इसका अंत हो जाएगा। तथापि इस उक्ति से हम यह समझ सकते हैं कि सामाजिक मनुष्य के चतुर्विध क्रिया-व्यवहार को प्रायः प्रत्येक समाज की मनोवैज्ञानिक और आर्थिक आवश्यकताओं में सामान्य रूप से अंतर्निहित ही माना जाता था और अतएव इसे परमात्मा का विधान समझा जाता था जो कि मानव के समष्टिगत एवं व्यष्टिगत जीवन में अपने-आप को अभिव्यक्त करता है।" (CWSA 19: 512-13)

"...समाज की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था किसी ऐसे आध्यात्मिक सत्य का एक स्थूल या मूर्त्त रूप मात्र है, जो स्वयं उस स्थूल रूप से स्वतंत्र है। यह इस अवधारणा पर आधारित है कि जिसके द्वारा कर्म किया जाता है उस कर्त्ता के स्वभाव की सम्यक् रूप से सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में उचित कर्म संपादित हों और वह स्वभाव कर्त्ता के सहज गुण और आत्म-प्रकटनकारी वृत्ति के अनुसार उसके जीवन की धारा और क्षेत्र को निर्धारित करे।" (CWSA 19: 6-7)

"इसलिए मनुष्यों को अपने स्वभाव (गुण) और कर्म के अनुसार चतुर्विध धर्म का पालन करना पड़ता है और सांसारिक कर्म के इस क्षेत्र में वे भगवान् को उनके विविध गुणों द्वारा ही ढूँढ़ते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि मैं चतुर्विध कर्मों का कर्त्ता और चातुर्वर्ण्य का स्रष्टा हूँ तो भी मुझे अकर्त्ता, अविनाशी, अक्षर-आत्मा भी जानना चाहिए। "कर्म मुझे लिप्त नहीं करते, न कर्मफल की मुझे कोई स्पृहा है", क्योंकि भगवान् इस अहंभावापन्न व्यक्तित्व से तथा प्रकृति के गुणों के इस द्वन्द्व से परे निर्गुण-निर्वैयक्तिक हैं, और अपने पुरुषोत्तम-स्वरूप में भी, जो उनका निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व है, वे कर्म के अन्दर रहते हुए भी अपनी इस परम

स्वतंत्रता से संपन्न होते हैं। इसलिए दिव्य कर्मों के कर्त्ता को चातुर्वर्ण्य का पालन करते हुए भी जो परे है, निर्वैयक्तिक आत्मा में है और इसलिए परमेश्वर में है, उसी को जानना और उसी में निवास करना होता है। इस प्रकार "जो मुझे जानता है, वह अपने कर्मों से नहीं बँधता..."" (CWSA 19: 147)

"सामान्य स्तर पर समस्त कर्म त्रिगुण के द्वारा निर्धारित होता है; करने योग्य कर्म, 'कर्तव्यं कर्म', दान, तप और यज्ञ का त्रिविध रूप ले लेता है, और इन तीन में से कोई भी एक या ये सभी किसी भी गुण का स्वभाव धारण कर सकते हैं। अतएव हमें इन चीजों को इनके सामर्थ्यानुसार उच्चतम संभव सात्त्विक शिखर तक ऊँचा उठाते हुए ही आगे बढ़ना होगा और फिर उस शिखर से और भी परे एक ऐसी विशालता की ओर जाना होगा जिसमें सभी कर्म एक मुक्त आत्म-दान, दिव्य तपस् की एक शक्ति, आध्यात्मिक जीवन का एक नित्य यज्ञ बन जाते हैं। परंतु यह एक सर्वसामान्य नियम है और इन सब विवेचनों के द्वारा सर्वथा व्यापक सिद्धांतों की ही व्याख्या की गयी है, ये सब कर्मों और सब मनुष्यों पर समान रूप से, बिना किसी भेदभाव के लागू होते हैं। आध्यात्मिक विकास के द्वारा अंत में सभी इस प्रबल अनुशासन, इस व्यापक पूर्णता, इस उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति तक पहुँच सकते हैं। परंतु जहाँ मन और कर्म का सर्वसाधारण नियम सभी मनुष्यों के लिए एक-सा है, वहाँ हम यह भी देखते हैं कि वैविध्य का भी एक शाश्वत नियम है और प्रत्येक व्यक्ति मानवीय आत्मा, मन, संकल्प-शक्ति और प्राण के सार्वभौम नियमों के अनुसार ही नहीं अपितु अपनी प्रकृति के अनुसार भी कर्म करता है; प्रत्येक मनुष्य अपनी परिस्थितियों, क्षमताओं, प्रवृत्ति, चरित्र एवं शक्ति-सामर्थ्य के नियम के अनुसार विभिन्न कर्त्तव्यों को पूर्ण करता या विभिन्न दिशा का अनुसरण करता है। अध्यात्म-साधना में इस वैविध्य को, प्रकृति के इस व्यक्तिगत नियम को क्या स्थान देना चाहिए?" (CWSA 19: 508)

यहाँ श्रीअरविन्द इस बात का स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि आखिर गीता में स्वभाव की चर्चा ही क्यों आई है। सभी मानवों के एक सामान्य गतिक्रम में प्रत्येक व्यक्ति पहले तमस् से रजस् की ओर, फिर रजस् से सत्त्व की ओर और अंततः सत्त्व से निस्त्रैगुण्य की ओर आरोहण करता है। हालाँकि इस सामान्य गतिक्रम में भी सदा ही यह संभावना रहती है कि कोई व्यक्ति किसी भी अवस्था से सीधे ही निस्त्रैगुण्य की स्थिति में जा सकता है। यह तो एक ऐसा अप्रत्याशित विधान है जिसकी सदा ही संभावना तो रहती है परंतु यह कोई सामान्य क्रम नहीं है। सामान्य क्रम तो गीता में वर्णित तमस्, रजस् और सत्त्व से उत्तरोत्तर होता हुआ

करना ही सुगम था, तब एक बाहरी मापदण्ड (जन्म) के आधार पर 'स्वभाव' का निर्धारण करने से जो त्रुटियाँ आ सकती हैं उनका परिमार्जन उपरोक्त बतलाये गये प्रत्येक वर्ण विशेष के लिए सुनिर्धारित किये गए धर्म व अत्यन्त बुद्धिमानी व दक्षता से स्थापित किये गए (बाह्य, भावात्मक एवं मानसिक) शिक्षण-प्रशिक्षण के ढाँचे व गुणों के आनुवांशिक हस्तांतरण की संभावनाओं द्वारा किया जाता रहा। यद्यपि यह एक बहुत पूर्ण या दोषमुक्त व्यवस्था नहीं हो सकती थी, फिर भी इसने लंबे समय तक व काफी हद तक वर्ण-व्यवस्था में घोर असंगतियों व विकृतियों को प्रकट होने से रोके रखा।

गीता के १८वें अध्याय के निम्न श्लोक चतुर्वर्ण व्यवस्था से संबंधित हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

४१. हे परंतप! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के कर्म उनके स्वभावजन्य गुणों के अनुसार विभक्त हुए हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

४२. शांत-स्थिरता, आत्मसंयम, तपस्या, शुचिता, सहनशीलता, सरल व्यवहार अथवा स्पष्टवादिता, ज्ञान तथा विज्ञान (मूलभूत तथा व्यापक ज्ञान), आध्यात्मिक सत्य की स्वीकृति तथा उसका अभ्यास ब्राह्मण के कर्म हैं जो उसके स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

सामान्यतः जब कर्म के विभाजन की बात आती है तब प्रायः ही हम उन्हें बाहरी कर्मों से या पेशे से मान बैठते हैं। जबकि ब्राह्मण के जिन कर्मों का गीता यहाँ वर्णन करती है उनसे तो सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि गीता का कर्म के द्वारा अभिप्राय किसी बाहरी पेशे से नहीं हो सकता अपितु ये सभी तो आंतरिक गुण हैं। 'शांत-स्थिरता, आत्मसंयम, तपस्या, शुचिता, सहनशीलता, सरल व्यवहार अथवा स्पष्टवादिता, ज्ञान तथा विज्ञान (मूलभूत तथा व्यापक ज्ञान), आध्यात्मिक सत्य की स्वीकृति तथा उसका अभ्यास' – इन सब में अभ्यास को तो हम बाहरी कर्म की श्रेणी में डाल सकते हैं परंतु इसके अतिरिक्त आत्म-संयम, शुचिता, सहनशीलता आदि तो कोई बाहरी कर्म नहीं हो सकते। अब यदि इन मानदंडों से हम ढूँढ़ें तो कदाचित् ही हमें कोई ब्राह्मण मिले। केवल ब्राह्मण ही क्यों, गीता जिस-जिस प्रकार के गुण चारों वर्णों के बताती है उस दृष्टिकोण से तो कदाचित् ही हमें अपने

हमारी संस्कृति के मूल स्तंभ, वेदों, को भी सर्वथा अवमानित करने का प्रयास किया गया। दुर्भाग्यवश आज भी हम मैक्स मूलर को वेदों के पंडित और भारतीय संस्कृति के परम हितैषी के रूप में मानकर उसके द्वारा लिखी पुस्तकों का अध्ययन-अध्यापन करते हैं। यह घोर मूर्खता तब भी चालू है जबकि आज उसके वे पत्र प्रकाश में आ चुके हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वयं मिशनरी न होते हुए भी उसका कार्य मिशनरी भाव से प्रेरित था। यहाँ हम के. वी. पालीवाल की पुस्तक Max Muller : A Secular Christian Missionary and Distorter of the Veda, Hindu Writers Forum, New Delhi, २००६ के कुछ अंश प्रस्तुत करते हैं जिनसे हमें यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा कि वेदों को नष्ट करने की कुत्सित योजना किस हद तक चल रही थी।

१८६८ में मैक्स मूलर ने आर्गाइल के राजकुमार, जो कि भारत के तात्कालिक राज्य-सचिव (Secretary of State) थे, को लिखा, "मिशनरियों ने इतना काम कर डाला है जितना कि वे स्वयं भी उसके बारे में अभिज्ञ नहीं होंगे, यही नहीं, जो उनका बहुत-सा काम है उसे तो वे स्वीकार ही नहीं करेंगे कि वह उन्होंने किया है। हमारी १९वीं शताब्दी की ईसाइयत शायद ही भारत की ईसाइयत हो पाएगी। किंतु भारत का पुरातन धर्म तो अभिशप्त है – और यदि इसमें ईसाइयत वहाँ प्रवेश नहीं करती तो इसमें दोष किसका होगा?" (पृष्ठ २७)

मैक्स मूलर का वेदों का अनुवाद भारी रूप से निहित हेतुओं से प्रायोजित था परंतु अपने अंतरंग निजी पत्रों के अलावा उसने ऐसा खुले तौर पर कभी भी प्रकट नहीं किया। ऐसा ही एक पत्र उसने अपनी पत्नी को दिसंबर १८६६ में लिखा, "मुझे आशा है कि मैं अपना वह काम पूरा कर लूँगा और हालाँकि यह देखने के लिए मैं जिंदा नहीं रहूँगा, पर फिर भी मुझे विश्वास है कि मेरा यह संस्करण तथा वेद का अनुवाद आने वाले समय में भारत के भाग्य पर बहुत हद तक प्रभाव डालेगा और उस देश के लोगों के विकास को प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है, और उन्हें यह दिखाना कि वह मूल क्या है, मुझे लगता है, यही उस सबका उन्मूलन करने का एकमात्र तरीका है जो कुछ पिछले तीन हजार वर्षों के दौरान उसमें से पैदा हुआ है।" (पृष्ठ २६)

इस पत्र से १० वर्षों पूर्व मैक्स मूलर द्वारा लिखे एक दूसरे पत्र से उसके क्रिश्चियन मिशनरी हेतुओं के विषय में कोई संशय शेष नहीं रह जाता। २५.८.१८५६ को मि. बन्सन को वह लिखता है , "....अंतिम कब्जे के बाद भारत के इलाकों को विजय करने का काम समाप्त हुआ – अब इसके बाद धर्म और

V. प्राचीन भारतीय आर्य समाज में चातुर्वर्ण्य तथा वर्तमान जाति व्यवस्था

"हमें यह समझना होगा कि चातुर्वर्ण्य से प्राचीन आर्य ऋषियों का अभिप्राय महज सामाजिक वर्गीकरण से नहीं था, अपितु इस संज्ञान से था कि भगवान् अपने-आप को मूल स्वभाव में अभिव्यक्त करते हैं, जिसे हमारे शारीरिक भेद, हमारे सामाजिक वर्ग मानव जीवन के प्रतीकों में सुव्यवस्थित करने का एक प्रयास, और प्रायः ही एक भ्रमित प्रयास मात्र हैं, प्रायः ही वे महज एक हास्यास्पद नकल और उस दिव्य चीज की विकृति होते हैं जिसे वे व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अंदर चारों धर्म होते हैं, परंतु किसी एक की प्रधानता होती है, किसी एक के अंतर्गत व्यक्ति का जन्म[1] होता है और वही उसके स्वभाव का प्रधान स्वर होता है और उसके सभी कर्मों के तौर-तरीके और ढाँचे को निर्धारित करता है; शेष सभी कुछ इस प्रधान प्रकार के अधीन होता है और उसका पूरक बन कर उसकी सहायता करता है। कोई भी ब्राह्मण तब तक पूर्ण ब्राह्मण नहीं है, जब तक कि उसमें क्षात्रतेज, वैश्यशक्ति और शूद्रशक्ति न हों, लेकिन इन सभी को उसके पूर्ण ब्राह्मण्यं की सहायता करनी होती है। भगवान् स्वयं को चार प्रजापतियों या गीता वर्णित चत्वारो मनवः अर्थात् मनुओं के रूप में प्रकट करते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति चार में से किसी एक के अंश में पैदा होता है; पहले का विशिष्ट लक्षण होता है ज्ञान और विशालता, दूसरे का वीरता और बल, तीसरे का निपुणता और उपभोग, चौथे का काम और सेवा। पूर्णत्व प्राप्त मनुष्य अपने-आप में चारों क्षमताओं को विकसित करता है और एक साथ ही ज्ञान और विशालता के देव, वीरता और बल के देव, कौशल और उपभोग के देव, कर्म और सेवा के देव से युक्त होता है। हालाँकि, इनमें से कोई एक प्राधान्य में होता है और दूसरों का निर्देशन और उपयोग करता है।" (CWSA 10: 7)

"गुण में चातुर्वर्ण्य को वीर्य कहा जा सकता है। यह स्वभाव में चार वर्णों के गुण हैं। पूर्ण पुरुष में चारों होते हैं, हालाँकि सामान्यतः कोई एक प्रधान होता है और स्वभाव को उसका सामान्य स्वरूप प्रदान करता है। सबसे पहले, मनुष्य में ब्राह्मण

---

[1] इसका मतलब यह नहीं है कि व्यक्ति का वर्ण उसके जन्मदाता परिवार पर निर्भर करता है। जन्म से ही व्यक्ति का वर्ण तय होता है व वह उसकी आंतरिक प्रकृति पर निर्भर करता है। एक माता-पिता की सभी संतानें एक ही वर्ण की हों यह आवश्यक नहीं है।

गुण होने चाहिए, [वे जो][2] ज्ञानी व्यक्ति के होते हैं। सबसे पहले, उसमें, ब्राह्मण का सामान्य स्वभाव होना चाहिए, अर्थात् शांति, धैर्य, स्थिरता और विचारशीलता, जिन सभी (गुणों) को धैर्यं शब्द द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। तत्पश्चात् उसमें आवश्यक मानसिक खुलेपन और जिज्ञासा के साथ-ही-साथ ज्ञान की ओर प्रवृत्ति होनी चाहिये, विशेष रूप से दिव्य ज्ञान की ओर, परंतु साथ ही सभी प्रकार के विषयों पर सभी प्रकार के ज्ञान की ओर रुझान होना चाहिए। यह ज्ञानलिप्सा है। ब्राह्मण में न केवल ज्ञान की प्यास होती है, अपितु मन की एक सामान्य स्पष्टता और विचारों के द्वारा सहजता से आलोकित होने और सत्य को ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी होती है। यह ज्ञानप्रकाश है। उसके पास एक आध्यात्मिक शक्ति भी होती है जो ज्ञान और पवित्रता से आती है। यही ब्रह्मवर्चस्य है।...

साथ ही क्षत्रिय के गुण, कर्म करने वाले मनुष्य या योद्धा के गुण भी होने चाहिए। इनमें से पहला है साहस और यह दो प्रकार का होता है – अभय अथवा निश्चेष्ट साहस जो किसी खतरे से घबरा नहीं जाता और सामने आए किसी भी संकट से तथा किसी आपदा या दुःख-कष्ट से सहम नहीं जाता है। दूसरा है साहस अथवा सक्रिय साहस, अर्थात्, किसी भी उद्यम को, चाहे वह कितना भी कठिन हो या फिर दिखने में असंभव ही क्यों न हो, शुरू करने का और सभी खतरों, कष्टों, असफलताओं, बाधाओं और विरोधों के बावजूद उसे पूरा करने का साहस। इसके लिए दो अन्य चीजें भी आवश्यक हैं। (पहले,) स्वभाव में युद्ध तथा विजय तथा प्रयास तथा विजयोल्लास पर आग्रह रखने की प्रवृत्ति, अर्थात्, यशोलिप्सा। दूसरे, एक प्रबल आत्म-विश्वास और अपने-आप में निहित शक्ति के विषय में ऊँची धारणा। यह आत्म शक्ति या आत्म-श्लाघा है।...

कर्म और भोग के लिए वैश्य गुण भी आवश्यक हैं। पहला है श्रम, संसाधनों, सामग्रियों, साधनों और स्वयं जीवन को बिल्कुल मुक्त रूप से खर्च करने की तत्परता, महत् लाभ हासिल करने के लिए नुकसान भुगतने के बड़े जोखिम उठाना। इसे व्यय कहा जा सकता है। परंतु इसके साथ ही साध्य (प्राप्तव्य लक्ष्य) को प्राप्त करने के लिए साधनों और पद्धतियों के उपयोग और उनकी प्रकृतिविशेष के अनुसार उनके उचित प्रबंधन में कौशल होना चाहिए और यह ज्ञान भी होना चाहिए कि किसी अमुक साधन या विधि के सहारे या किसी विशेष व्यय के द्वारा क्या प्राप्त किया जा सकता है या नहीं किया जा सकता। अनुपात

[2] लेखकीय हस्तलिपि में: या

VI. चतुर्विध विभाजन की दो प्रणालियों (एक गुणात्मक और दूसरी स्तरानुक्रमबद्ध) के बीच एक सर्वव्यापी भ्रम – जातियों और वर्णों के विभाजन के नाम पर होने वाली अधिकांश गलतफहमियों, कटुताओं और अनकही पीड़ाओं और अन्यायों का मूल

गहनतर सत्य की अधिक पूर्ण, जीवंत और निर्दोष अभिव्यक्ति से ही मुख्यतः सरोकार रखते हुए वैदिक ऋषि बार-बार, आवश्यकतानुसार, समान ही प्रतीक या शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न संदर्भों में और विभिन्न अर्थों में कर लेते थे। उदाहरणार्थ, वेद में 'गो' शब्द का प्रयोग गाय और प्रकाश इन दो अर्थों में किया गया है; गाय बाहरी प्रतीक है, और आंतरिक अर्थ है प्रकाश। इसी तरह, अश्व या घोड़ा जीवन-शक्ति का प्रतीक है और अश्वमेध दिव्य अस्तित्व के प्रति अपने सभी आवेगों, इच्छाओं, भोगों सहित जीवन-शक्ति की भेंट है। वेद भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के मूल में है और एक दृष्टि से अन्य सभी शास्त्र, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत, पुराण, तंत्र और स्मृतियाँ वेद के सत्य को विभिन्न रूपों में व्यक्त करने और समझाने के प्रयास मात्र हैं। आधुनिक भौतिकवादी मानसिकता वैदिक प्रतीकवाद को समझने में विफल रही है, जिसके कारण उपनिषदों का तीन-चौथाई भाग और पुराणों और तंत्रों में गहरे सत्य को व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया गया अधिकांश प्रतीकवाद उसके लिए बंद पुस्तक बनकर रह गया है। वैदिक रूपक ही एकमात्र पुराणों की कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीकात्मक उपमाओं पर स्पष्ट प्रकाश डालते हैं। उदाहरण के लिए प्रलयोपरांत क्षीरसागर में शेषशायी विष्णु के प्रसिद्ध प्रतीक को लें। "कदाचित् यह आपत्ति जताई जा सकती है कि पुराण अंधविश्वासी हिंदू पंडितों या कवियों द्वारा लिखे गए थे जो ऐसा मानते थे कि किसी सपक्ष-सर्प (ड्रैगन) द्वारा सूर्य तथा चंद्रमा को खा जाने के कारण ग्रहण होते थे और जो सहज ही ऐसा विश्वास कर सकते थे कि प्रलय कालों में परम ईश्वर भौतिक शरीर में वास्तविक दूध के एक स्थूल भौतिक सागर पर एक भौतिक नाग पर लेटने के लिए गए, और इसीलिए इन कल्पनात्मक कहानियों में किसी प्रकार का आध्यात्मिक अर्थ खोजना व्यर्थ की पटुता है। इस विषय में मेरा उत्तर होगा कि वास्तव में ऐसे अर्थ खोजने की कोई आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि इन्हीं अंधविश्वासी कवियों ने उन अर्थों को इन पौराणिक कथाओं की सतह पर ही स्पष्ट शब्दों में उन सबके लिए प्रकाशित किया है जो अंधे होना स्वीकार नहीं करते। क्योंकि उन्होंने विष्णु के सर्प को अनंत नाम दिया है, और अनंत का अर्थ है असीम; अतः उन्होंने हमें पर्याप्त स्पष्टता से बताया है कि यह

प्रतीक एक रूपक या अन्योक्ति है, और सर्व-व्यापक विष्णु प्रलय कालों में अनंत की कुण्डलियों पर शयन करते हैं। सागर के विषय में, वैदिक प्रतीक हमें यह दिखाते हैं कि यह अवश्य ही शाश्वत जीवन का सागर होना चाहिए और शाश्वत जीवन का यह सागर परम मधुरता, या दूसरे शब्दों में विशुद्ध परमानंद का सागर होना चाहिए।" (CWSA 15: 107)

श्रीअरविन्द के अनुसार, "वेद में यह संभव है कि एक और ही प्रवृत्ति कार्यरत रही हो – अर्थात् उन प्राचीन रहस्यवादियों के मनों में प्रधानतया विद्यमान, सतत और सर्वत्र पायी जानेवाली प्रतीकवादी प्रवृत्ति। हर एक बात, उनके अपने नाम, राजाओं और याजकों के नाम, उनके जीवन की साधारण से साधारण परिस्थितियों को प्रतीकात्मक बना दिया गया था और वे प्रतीक उनके गुप्त अभिप्रायों के लिये आवरण स्वरूप होते थे। जिस प्रकार वे 'गो' शब्द की द्व्यर्थकता का उपयोग करते थे, जिसका अर्थ 'किरण' या 'प्रकाश' और 'गाय' ये दोनों होते थे, जिससे कि गाय, जो कि उनकी चारागाही संपत्ति का मुख्य रूप थी, की मूर्त्त या भौतिक आकृति से गो शब्द के गुह्य अर्थ 'आंतरिक प्रकाश' – जो कि आध्यात्मिक संपत्ति का वह मुख्य तत्त्व था जो वे देवताओं से चाहते थे – को ढका जा सके, वैसे ही वे अपने नामों का भी उपयोग करते थे, उदाहरणार्थ, गोतम 'प्रकाश से अधिकतम परिपूर्ण', गविष्ठिर 'प्रकाश में स्थिर', एवं ऊपर से देखने में जो व्यक्तिगत इच्छा या दृढ़ कथन प्रतीत होता है, उसके नीचे वे अपने विचार में रहनेवाले विस्तृत और व्यापक अभिप्राय को छिपाये होते थे। इसी प्रकार वे बाह्य तथा आन्तर अनुभूतियों का भी, वे चाहे अपनी हों या दूसरे ऋषियों की, उपयोग करते थे। यज्ञस्तम्भ के साथ बाँधे गये शुनःशेप की प्राचीन कथा में यदि कुछ सत्य है तो .. यह बिल्कुल निश्चित है कि ऋग्वेद में यह घटना या गाथा एक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त की गयी है। शुनःशेप है मानवीय आत्मा जो पाप के त्रिविध पाश से बद्ध है और अग्नि, सूर्य तथा वरुण की दिव्य शक्तियों द्वारा वह इससे छुड़ाया जाता है।" (CWSA 15: 161)

"पाप की यह जननी अविद्या अपने सारभूत परिणाम में एक त्रिविध पाश का – सीमित मन, अयोग्य प्राण और तमसाच्छन्न भौतिक पाशविक सत्ता की त्रिविध रज्जु का – रूप धारण करती है, वे तीन रज्जू जिससे ऋषि शुनःशेप को बलि-पशु के रूप में यज्ञ-स्तंभ से बाँधा गया था। इसका पूरा परिणाम है सत्ता की संघर्षरत या निष्क्रिय दीनता। मर्त्य निरानंदता की तुच्छता और सत्ता की अपूर्णता ही प्रतिक्षण पतन को प्राप्त होती हुई मृत्यु की ओर जा रही है। जब शक्तिशाली वरुण आता है और इस त्रिविध बंधन को काट फेंकता है तब हम ऐश्वर्य और